



THE TIMES OF INDIA

Date: 24-08-26

Click, Hooook

Legal pressure on social media companies is necessary to make them accountable for harms done

TOI Editorials

The flurry of suits against Big Tech companies and legislative measures to curb social media platforms, across the world, are unsurprising. For years, studies, researchers, and govts have raised concerns about the addictive nature of social media. The high-profile Meta trial underway, brought by four US states (California, Colorado, Kentucky and New Jersey), addresses whether the company deliberately designed Instagram and Facebook to be addictive for children and teenagers, despite knowing that excessive use could harm their well-being. If in one case, one court called Meta a “public nuisance”, in another, families of four American teenagers who died by suicide sued Meta, TikTok, Snapchat, and YouTube over what they, reportedly, described as “years of escalating harms” from using the platforms – that eventually resulted in the teens’ deaths. Australia, Indonesia, Malaysia and Brazil have bans or restrictions for under-16s’ social media use, while UK, France, Norway and Denmark are either targeting similar legislative measures or are in the process of implementing the ban, age verification the key factor. At least 79 school systems worldwide restrict smartphones in schools.

Yet, despite the cautions, data, penalties and bans, Big Tech carry on regardless; their executives have stuck to dishing out platitudes, demonstrating a disregard for very real concerns that social media is addictive and dangerous. The scale of exposure is unprecedented. Axis Intelligence’s 32-country meta-analysis (April 2026), using Bergen Social Media Addiction Scale, reported that globally 5.8bn people use social media. About 24% of users globally meet criteria for “problematic social media use”. Among US teenagers, 46% reported being online “almost constantly”. An earlier JAMA Network Open study reported that social media use was associated with “greater depressive symptoms one year later”. A Pew research (2025) showed 48% of teens surveyed saying that social media has a mostly negative influence on people their age, up from 32% in 2022. Meta’s current trial started after a whistleblower revealed Meta’s internal research in 2021. Features such as infinite scrolling and autoplay keep users hooked.

The question is of accountability – especially as AI and other powerful tech are developed, how much responsibility should tech companies have for the effects their products create? The growing legal pressure shows the debate has shifted from whether social media is harmful – there is little doubt about the fact – to making tech companies legally accountable for designing products that keep users hooked, despite Big Tech knowing the risks.



दैनिक जागरण

Date: 24-08-26

दिमागी नक्सल पर व्यर्थ की बौखलाहट

उमेश चतुर्वेदी, (लेखक वरिष्ठ पत्रकार और राजनीतिक विश्लेषक हैं)



प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी ने राजनीति को ऐसे-ऐसे शब्द दिए हैं, जो उनके समर्थकों को जितना पसंद आते हैं, उससे कहीं ज्यादा उनके विरोधियों को बेधते हैं। शब्द की पहुंच और सफलता को इन दोनों ही परिस्थितियों से समझा जा सकता है। दिल्ली के 2020 के विधानसभा चुनावों के दौरान उन्होंने पहली बार आंदोलनजीवी शब्द का प्रयोग किया। समर्थन और चुभन की यात्रा करते हुए यह शब्द लोकप्रिय हो गया। विगत पंद्रह अगस्त को लाल किले की प्राचीर से उन्होंने नया शब्द दिया-दिमागी नक्सल। यह शब्द भी आंदोलनजीवी की गति को जल्द ही प्राप्त हो गया। दो शब्दों का यह युगल जहां मोदी समर्थकों को बेहद पसंद आया, वहीं उनके विरोधियों को यह चुभ गया।

दिलचस्प यह है कि मोदी ने जिनके लिए इस शब्द का प्रयोग किया, उनकी बजाय देश की सबसे पुरानी पार्टी के कई नेताओं को बेध गया। जिन चिदंबरम के गृहमंत्री रहते दंतेवाड़ा में 76 जवानों को बारूदी सुरंग में माओवादियों ने उड़ा दिया था, वे इस शब्द के विरोध में खुलकर आ चुके हैं। उन्होंने कहा कि हां, वे दिमागी नक्सल हैं। जब चिदंबरम ही ऐसा बोल रहे हों तो पार्टी प्रवक्ता कैसे चुप रहते। जाहिर है कि वे अपने-अपने ढंग से इसकी प्रतिक्रिया देने में जुट गए। कुछ और दलों के नेता भी इसमें शामिल हो गए और खुद को दिमागी नक्सली बताने लगे।

दिमागी नक्सल को लेकर जारी विवाद इंटरनेट मीडिया पर चाहे जिस भी रूप में दिखे, लेकिन आम लोगों में इसे लेकर अलग तरह की प्रतिक्रिया है। इस शब्द पर विवाद उठाने वालों को सही जवाब उड़ीसा के 'मलकानगिरी' और बस्तर के 93 गांवों में आजादी के बाद पहली बार उत्साह से मनाए गए स्वाधीनता दिवस समारोह ने दे दिया। इस शब्द की अहमियत को बस्तर में पूर्व माओवादी लड़कियों द्वारा किए गए रैंप-वाक से भी समझा जा सकता है। जिन हाथों में कभी बंदूकें होती थीं, जो कभी मरने और मारने के लिए उतारू रहते थे, जिन्हें कभी भारतीय संविधान से ज्यादा माओत्से तुंग के शब्दों पर ज्यादा आस्था थी, जिन्हें सत्ता वोट से नहीं, बारूद और

बंदूक की नली से निकलती नजर आती थी, अब वे लोग या तो पुलिस में शामिल होकर भारतीय संविधान के तहत लोगों की रखवाली कर रहे हैं या फिर रैंप-वाक कर रहे हैं या फिर नई जिंदगी के सपने बुन रहे हैं।

कभी देश के एक तिहाई हिस्से में माओवादियों की समानांतर सरकार चलती थी। इसे लाल गलियारे के रूप में परिभाषित किया जाता था, लेकिन गृहमंत्री अमित शाह ने 31 मार्च, 2026 तक माओवाद मुक्त करने का लक्ष्य रखा। यह लक्ष्य अब पूरा हो चुका है। माओवादी इलाकों में बढ़ती रेल लाइनें और नई बनती सड़कें इसका प्रतीक हैं। परिवर्तन की इन कहानियों को स्वीकार न करने और इसे छद्म मानने वालों का एक बड़ा तबका अब भी बौद्धिक तंत्र में बहुतायत में है। ऐसा सोच रखने वालों का एक तबका तंत्र में भी है। जो तंत्र की खूबियों और खामियों का फायदा भी उठा रहा है और अपने नक्सली दिमाग के जरिये व्यवस्था को अंदर से चुनौती दे रहा है। प्रधानमंत्री का इशारा इन्हीं लोगों की ओर है। दिलचस्प यह है कि देश की सबसे पुरानी पार्टी खुद के सत्ता में रहते वक्त इन लोगों की पहचान करके उन्हें अलग-थलग करना चाहती थी। 6 अप्रैल, 2010 को दंतेवाड़ा में 76 जवानों को बारूदी सुरंग के जरिये उड़ाने के बाद तत्कालीन मनमोहन सरकार सैनिक कार्रवाई तक की सोचने लगी थी, लेकिन सत्ता से दूरी के बाद अब वह भी उसके साथ खड़ी होती नजर आ रही है। दिमागी नक्सल के शब्द की प्रतिक्रिया का स्तर इसी का प्रतीक कहा जा सकता है।

इन दिनों कांग्रेस में जो घट रहा है, उससे लगता है कि सबसे पुरानी पार्टी कई तरह की मनःस्थितियों से गुजर रही है। शिक्षा मंत्रालय से धर्मेंद्र प्रधान की विदाई के बाद उसका उत्साह बढ़ना स्वाभाविक है, लेकिन वह इस कामयाबी को पचाती हुई नजर नहीं आ रही है। वह हताशा में आकर बौखलाहट का प्रदर्शन कर रहा है। स्वाधीनता दिवस पर जिस तरह वंदे मातरम् के संपूर्ण पाठ के गायन से सोनिया गांधी सार्वजनिक तौर पर नाराज होती दिखीं, उससे कांग्रेस की मनोदशा का पता चलता है। संसद ने वंदे मातरम् के पूरे पाठ का गायन अनिवार्य करने वाला कानून बना दिया है, लेकिन कांग्रेस पुराने ढर्रे पर ही आगे बढ़ना चाहती है। कांग्रेस की अगुआई वाली केरल सरकार पहले ही कह चुकी है कि राज्य में पहले की तरह वंदे मातरम् के शुरुआती दो ही पदों का गायन होगा। कांग्रेस कानून न मानने का जोखिम उठा सकती है, लेकिन कांग्रेस मुख्यालय में वंदे मातरम् का कितना गायन होगा, इसका फैसला वह पहले से ले सकती थी। वंदे मातरम् के गायन को बीच में ही रोकने की सार्वजनिक कोशिश से बचा जा सकता था।

नरसिंह राव, अटल बिहारी वाजपेयी और चंद्रशेखर समकालीन राजनेता रहे। तीनों की विचारधाराएं अलग रहीं, पर राव और चंद्रशेखर-दोनों अटल जी को गुरु कहा करते थे। ऐसा नहीं कि तीनों असहमति नहीं रखते थे, पर ऐसी असहमतियां पार्टी लाइन पर होती थीं, निजी नहीं। आज ऐसी उम्मीदें बेमानी हैं। कांग्रेस जिस तरह भाषा की मर्यादा का उल्लंघन बार-बार कर रही है, उससे उसकी खीझ का ही पता चलता है।

देश की ईमानदार तस्वीर पेश करेगी जातिगत जनगणना

धुबो ज्योति, (डिप्टी एक्जीक्यूटिव एडिटर, एचटी)



आजाद भारत को गणतंत्र घोषित हुए अभी एक महीना भी नहीं बीता था कि राज्यों के जनगणना अधीक्षकों की बैठक (23 फरवरी से 1 मार्च 1950 तक) नई दिल्ली में बुला ली गई। इन अधिकारियों को एक विशालकाय कार्य को अंजाम देना था- देश की पहली जनगणना ।

इस काम की अगुवाई स्कॉटलैंड के विलियम वाल्टर मरे येट्स कर रहे थे। हालांकि, कुछ महीने बाद ही उनकी मौत हो गई और उनकी जगह आर ए गोपालस्वामी नए जनगणना आयुक्त नियुक्त

किए गए। इस ऐतिहासिक सम्मेलन का उद्घाटन करते हुए तत्कालीन गृह मंत्री सरदार वल्लभभाई पटेल ने साफ कर दिया कि जनगणना, खासकर जाति के मामले में भारत के औपनिवेशिक अतीत से अलग होगी। संविधान सभा में भी जवाहरलाल नेहरू इससे सहमत दिखे कि जाति जनगणना राष्ट्रीय एकता की कोशिशों को नुकसान पहुंचाएगी।

इन नैतिक तर्कों के बावजूद जाति जनगणना की मांग कभी कम नहीं हुई। साइमन कमीशन के समक्ष और गोलमेज सम्मेलनों में जाति जनगणना के आंकड़ों का बहुत कुशलता से इस्तेमाल कर चुके थी आर आंबेडकर इसके सबसे पहले समर्थक थे। इसके बाद, प्रथम पिछड़ा वर्ग आयोग ने सिफारिश की कि 1961 की जनगणना को जाति के हिसाब से कराया जाए। हालांकि, इन सिफारिशों को बाद में उसके ही अध्यक्ष ने खारिज कर दिया। दूसरी बार मंडल आयोग ने 1970 और 80 के दशक में इस मांग को दोहराया। भारत में रोजमर्रा की जिंदगी की एक अहम सच्चाई है जाति, लेकिन यह नीतियों से गायब है। फिर भी, नई सदी की शुरुआत से हर जनगणना में जाति- गणना की मांग उठती रही है।

राजनीतिक स्तर पर देखें, तो वर्ष 2001 में तत्कालीन गृह मंत्री लालकृष्ण आडवाणी ने जाति गणना की संभावना को खारिज कर दिया। साल 2010 में तत्कालीन वित्त मंत्री प्रणब मुखर्जी ने कहा कि जनगणना में जाति को शामिल किया जाएगा, लेकिन सरकार ने इसे एक ऐसे मंत्रालय को सौंप दिया, जिसे देशव्यापी कार्यों का अनुभव

कम था। इसे कभी सार्वजनिक भी नहीं किया गया। साल 2025 में केंद्रीय मंत्रिमंडल ने घोषणा की कि जाति की गणना अब हर जनगणना में होगी।

हो सकता है, सरकार को भरोसा हो कि 2024 तक पिछड़ी जातियों की समस्या हल हो गई हो। हो सकता है कि हाल की चुनावी जीत से उत्साहित वह जीतने वाले फॉर्मूले में कोई बदलाव न करना चाहती हो, हो सकता है कि हाल के जैन जी आदोलन ने उसे किसी जोखिम भरे कदम उठाने से सावधान कर दिया हो या हो सकता है कि वह आर्थिक और ऊर्जा क्षेत्र में आ रही दिक्कतों के बीच अपने मुख्य वोटबैंक (अगड़ी जातियों) को नाराज न करना चाहती हो। कभी जाति जनगणना की मांग के मुख्य सूत्रधार रहे नीतीश कुमार अब एनडीए के सहयोगी हैं। बिहार, कर्नाटक और तेलंगाना के जाति सर्वेक्षणों से चुनावी समीकरण में कोई बड़ा बदलाव नहीं आया और सुप्रीम कोर्ट द्वारा तय 50 प्रतिशत आरक्षण की सीमा को पार करने की आशंका भी नहीं है।

ट्रिना विधवाथिल ने जाति-गणना पर अपनी पुस्तक काउंटिंग कास्ट में बताया है, 'भारत के इतिहास में जाति को लेकर हमेशा से अस्पष्टता रही है। जनगणना में सिर्फ अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों को ही अलग से दर्ज किया जाता है। इसमें उन जातियों पर ध्यान नहीं जाता, जो संख्या में तो कम हैं, मगर सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक रूप से बहुत मजबूत हैं। इस मुद्दे पर भारत के वामपंथी और दक्षिणपंथी दलों का एक जैसा रुख दिखाता है कि नीति, नौकरशाही और राजनीति में अगड़ी जातियों का कितना मजबूत कब्जा है, भले ही पिछले पचास वर्षों में पिछड़ी जातियों की राजनीति का विस्तार हुआ हो ।

जातियों की गिनती से न तो जातिगत भेदभाव खत्म हो सकता है और न ही चुनावी राजनीति में कोई बड़ा बदलाव आ सकता है, लेकिन यह गणना आज के भारत की एक ईमानदार तस्वीर पेश कर सकती है। यह इस बात के सुबूत जुटा सकती है कि जाति ने स्वास्थ्य, शिक्षा और रोजगार के आंकड़ों को कैसे प्रभावित किया है। यह बता सकती है कि किन समुदायों ने संसाधनों के एक बड़े हिस्से पर कब्जा कर रखा है। साथ ही यह नीति-निर्माण में हमें एक प्रस्थान बिंदु प्रदान कर सकती है।